समतामूलक और समावेशी शिक्षा की संस्कृति

हर बच्चे के पास सीखने की क्षमता होती है और सीखने का उपयुक्त माहौल मिलने पर हर बच्चा सीख सकता है। यह समझ एक सामाजिक और संवैधानिक मूल्य है। समतामूलक और समावेशी शिक्षा के विचार का स्रोत इसी मूल्य से निकलता है। *पाठशाला भीतर और बाहर* का इस बार का संवाद इसी विषय पर आयोजित किया गया था। इस संवाद में अक्षत, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन बेंगलूरु से, दिनेश कर्नाटक, उत्तराखंड से, बृजेश, मुस्कान, भोपाल से, रश्मि पालीवाल, एकलव्य, भोपाल से और रोहित त्रिवेदी, आरुषि, भोपाल से शामिल हुए। -सं.

रश्मि : पहला प्रश्न यह है कि समतामूलक शिक्षा और समावेशी शिक्षा के क्या मायने हैं और यह हमारे लिए क्या अर्थ रखती है?

रोहित : समतामूलक शिक्षा का अर्थ है सबको शिक्षा मिले, सबका शिक्षा पर बराबरी का अधिकार हो। ऑन पेपर सबको राइट टू एजुकेशन है यानी सबका स्कूल तक पहुँचकर शिक्षा पाने का अधिकार है। मगर सब स्कूल और शिक्षा तक पहुँचें और शिक्षा सब तक पहुँचे, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कई वर्ग ऐसे हैं जिनको शिक्षा तक पहुँचाने के लिए बहुत सारे प्रयास करने पड़ेंगे। ख़ासतौर पर, अगर हम पर्सन विद डिसेबिलिटीज़ की बात करते हैं तो बहुत-सी चुनौतियों के कारण शिक्षा उन तक नहीं पहुँच पाती। उसके बहुत-से कारणों पर बाद में जाएँगे। जब तक सब लोगों तक शिक्षा की पहुँच नहीं है, यह नहीं कहा जाएगा कि सबको समतामूलक शिक्षा मिल पा रही है।

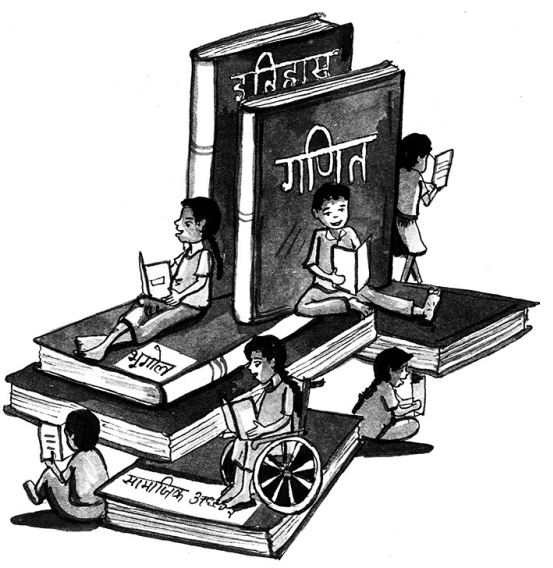

चित्र : हीरा धुर्वे

समावेशी शिक्षा यह है कि अगर बच्चे स्कूल में आ जाते हैं, तो भी उनके साथ तरह-तरह का भेदभाव होता है। स्कूल में सुविधाएँ, उपयुक्त वातावरण नहीं मिल पाता, और उनका अनुकूलन नहीं हो पाता। शिक्षक, बच्चे, बच्चों के अभिभावक और पूरा समाज, इन सभी की वेवलेंथ एक हो तभी समतामूलक और समावेशी शिक्षा के लक्ष्य को हासिल कर सकते हैं।

हम एक लोकतांत्रिक देश में रहते हैं। हम चाहते हैं

कि हमारी शिक्षा और हमारे संवैधानिक मूल्यों में जुड़ाव हो। शिक्षा ऐसी हो, जहाँ विद्यार्थी, अभिभावक और शिक्षक को यह न लगे कि वह जिस शिक्षा की बात कर रहे हैं, वह अन्य से श्रेष्ठ अथवा कमतर है। मुझे लगता है कि समतामूलक और समावेशी शिक्षा का ऐतिहासिक-राजनीतिक सन्दर्भ समझने की जरूरत भी है। आज से 100 साल पहले हम समतामूलक और समावेशी की बात नहीं कर सकते थे। यह बात लोकतांत्रिक समाज की कल्पना से शुरू हुई। शिक्षा में हम समानता की बात करते हैं और यह शब्द बहुत अच्छा लगता है, लेकिन हमारे जीवन, समाज और शिक्षा से यह ग़ायब हैं। उसकी एक वजह यह है कि विद्यालय लोकतांत्रिक नहीं हैं। यह सवाल भी है कि राज्य जिस लोकतंत्र और मूल्यों की बात करता है, क्या वह उन्हें वास्तव में विद्यार्थियों तक पहुँचाता भी है? मुझे लगता है कि जब हम समानता और समावेशी शिक्षा की बात करें तो हमारी नज़र हमारे आसपास के यथार्थ पर भी हो। संविधान में न्याय, बराबरी, बन्धुत्व, सभी अच्छी बातें हैं, लेकिन यथार्थ में शिक्षा की उपलब्धता कई स्तरों पर बँटी हुई है। स्पष्ट कहूँ तो किसी सरकारी विद्यालय में अगर उपयुक्त माहौल बना दिया भी जाए तब भी हममें यह एहसास तो रहता ही है कि यह स्कूल समतामूलक शिक्षा का हिस्सा नहीं है।

रश्मि : हालाँकि सामन्ती और राजशाही युग समाप्त हो गया, और लोकतंत्र के आने से सबको शिक्षा मिले, यह बात आम मान्यता के रूप में प्रचलित ज़रूर हो गई लेकिन फिर भी क्या शिक्षा समतामूलक हो पाई? क्या शिक्षा सबको मिल सकी, क्या हर एक को एक ही स्तर की गुणवत्ता की शिक्षा मिल पा रही है? समाज की मानसिकता की वजह से सबको शिक्षा उपलब्ध कराने की कोशिश के बावजूद भी शिक्षा दरअसल समतामूलक नहीं हुई।

बृजेश : समतामूलक और समावेशी शिक्षा का मतलब है कि सभी बराबर हैं, हर बच्चा बराबर है और उसको बराबर के अवसर मिलने चाहिए। हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो जिसमें, जाति, लिंग, धर्म या अन्य किसी आधार पर किसी भी तरह का कोई भेदभाव, बच्चे के साथ न हो। हमारे साथी वक्ता सवाल उठा रहे थे कि वास्तव में स्कूलों में कैसी स्थिति है, क्या स्कूल सचमुच में समावेशी हैं, क्या वो समतामूलक स्कूल की अवधारणा पर संचालित हो रहे हैं? हम देखते हैं कि यह बस कल्पना

है। हम कचरा चुनने वाले पारधी समुदाय के बच्चों के साथ काम कर रहे हैं। कचरा चुनने का काम करते हुए इन बच्चों ने कभी-कभार स्कूल जाने की कोशिश भी की, लेकिन स्कूल के अन्दर शिक्षकों और सहपाठियों के द्वारा जिस भेदभाव का इन बच्चों ने सामना किया, वह असहनीय था। इन बच्चों के लिए स्कूल में जगह नहीं बन सकी। ये बच्चे स्कूल या उस कक्षा के कमरे को अपना नहीं मान सकते। उसे वे ऐसी जगह नहीं मान सकते, जिसका दरवाज़ा उनके लिए खुला हो। स्कूल के प्रति अपनेपन की भावना इन बच्चों में कभी नहीं पनप पाई। इस समुदाय के लगभग 99 फ़ीसदी बच्चे स्कूल से बाहर ही रहे हैं। ऐसा नहीं है कि समुदायों ने कोशिश नहीं की और बच्चे स्कूल नहीं भेजे गए। वे मानते हैं कि यही एकमात्र जगह है, जहाँ पर कुछ सीखा जा सकता है, लेकिन स्कूलों में बच्चे अन्ततः ड्रॉप आउट ही हुए। समाज में जिस तरह की ग़ैर-बराबरी है, वह स्कूलों के अन्दर भी दिखती है। अलग-अलग क्षमता वाले व्यक्ति अपने बच्चों के लिए अलग तरह का स्कूल देख रहे हैं। जैसे– एलीट स्कूल में एक ख़ास वर्ग के बच्चे जाते हैं, मेहनतकश समुदाय के बच्चों के साथ इन बच्चों का कोई इंटरैक्शन नहीं है, उनके बीच संवाद का कोई मंच नहीं है, और इन अलग-अलग स्कूलों से निकले हुए बच्चों की जीवन शैली बाद में भी अलग-अलग होगी। हम समावेशी समाज की बात कर रहे हैं, जहाँ लोगों का बराबर का स्थान हो, लोगों के बीच में संवाद का मंच हो, लोग एक दूसरे के साथ सीखें-समझें, इस तरह के अवसर स्कूलों में मौजूद नहीं हैं।

चित्र : हीरा धुर्वे

रश्मि : रुचिकर और आनन्ददायी शिक्षा सबको उपलब्ध हो यह सभी स्कूलों में हो सकता है। सरकारी स्कूलों में भी जॉय ऑफ़ लर्निंग प्रोग्राम चल सकता है और एलीट स्कूल में भी। पर बात सिर्फ़ शिक्षा की गुणवत्ता की ही नहीं बल्कि शिक्षा के तौर-तरीक़ों की भी है। आपने जो कहा है, उसमें यही उभरकर आता है कि शिक्षा की गुणवत्ता और उसका तरीक़ा सरकारी स्कूलों में भी वैसे ही लागू करें लेकिन क्या हम इन स्कूलों को वही स्तर, वही साधन, वही सुविधाएँ दे पाते हैं?

बृजेश : आपने जो कहा उससे तीन सवाल मेरे मन में उभरते हैं। पहला, शिक्षा की गुणवत्ता और उसका तरीक़ा। क्या हम सरकारी स्कूलों में भी वही स्तर, वही साधन, वही सुविधाएँ, वही तरीक़े दे पाते हैं, जो एलीट स्कूलों में हैं? दूसरा, क्या स्कूलों में हमारा दृष्टिकोण, भेदभाव मिटाने वाला और एकता लाने वाला हो पाता है? तीसरा, क्या शिक्षा की दिशा के साथ-साथ समाज की दिशा भी इसमें पूरी तरह से शामिल रहती है? जब समतामूलक शिक्षा की बात करते हैं, तब केवल शिक्षा की गुणवत्ता की बात नहीं होती बल्कि समाज की दृष्टि की बात केन्द्र में हो जाती है।

अक्षत : हमारा समूह संवैधानिक मूल्यों पर काम करता है। हम अलग-अलग क्षेत्रों में, अलग-अलग मुद्दों पर काम करते हैं। कोई कला और संस्कृति पर काम करता है, कोई दलित, आदिवासी समुदाय के साथ, तो

कोई बच्चों के साथ। इन सबके माध्यम से हम संवैधानिक मूल्यों पर केन्द्रित करते हैं। चर्चा के सन्दर्भ में मैं अपने तीन अनुभवों को संक्षेप में रखूँगा। अभी कुछ दिन पहले ही एक यात्रा में एयर होस्टेस ने सहयात्री से पूछा कि आप हिन्दी में बात करेंगे या इंग्लिश में। यात्री ने जवाब दिया कि मैं तो आपसे चाइनीज़ और जैपनीज़ में भी बात कर लूँगा। वह एयर होस्टेस उत्तर-पूर्व की थी। दूसरी घटना राजस्थान के राजसमंद ज़िले की है। हमारे कुछ साथी बच्चों के साथ मिलकर पुस्तकालय चला रहे हैं। बच्चों से बात करते हुए मैंने पूछा, आप बड़े होकर क्या बनना चाहते हो? कुछ बच्चों ने कहा, आर्मी में जाना चाहते हैं। आर्मी में क्यों जाना चाहते हो, का जवाब था कि मैं मुसलमानों को मारना चाहता हूँ। तीसरी घटना बिहार के गोपालगंज की है। वहाँ भी छात्रों के एक समूह से मैं मिला। कमला भसीन की छोटी-छोटी पुस्तकें, स्कूलों में और पुस्तकालय में रखी हैं उनपर बच्चों के साथ बातचीत होती है। बच्चों से पूछा गया कि उनके लिए आज़ादी का मतलब क्या है? बच्चों का जवाब था आज़ादी का मतलब है, मैं और भी पढ़ूँ। इन तीन घटनाओं में मेरे हिसाब से एक चीज़ कॉमन है। वह यह कि अगर हम समतामूलक शिक्षा की बात कर रहे हैं तो हमें यह समझना होगा कि हम बच्चे को क्या सिखाएँ और कैसे सिखाएँ? हम सभी जानते हैं कि हमारा देश विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों का देश है। एक ही गाँव, एक ही क़स्बे में, भिन्न-भिन्न समुदाय के लोग रहते हैं और उस गाँव या क़स्बे में एक स्कूल होता है। उस स्कूल में विभिन्न जाति, धर्म के बच्चे आने चाहिए। इस तरह की विविधता पूरे देश में है, जिसमें असमानता भी है। असमान जगहों से आकर, बच्चे स्कूल में विश्वास, ख़ुशी, बिना डर, व आज़ादी के साथ रह सकें और गम्भीर प्रश्नों पर संवाद कर सकें, यह होना चाहिए। क्या स्कूल में अभी इन चीज़ों पर बच्चों के साथ हम संवाद कर सकते हैं? यह गम्भीर प्रश्न आने वाले समय और अभी के लिए उठकर आ रहा है।

रश्मि : आपने एक नया आयाम खोल दिया है। अभी तक बात यह थी कि समाज में मौजूद ग़ैर-बराबरी, स्कूलों व शिक्षा को कैसे प्रभावित करती है, क्योंकि समाज में समतामूलक मूल्य नहीं हैं, अतः वह शिक्षा व्यवस्था में भी नहीं दिखाई देता है। शिक्षा का दायित्व है कि वो समतामूलक समाज की कल्पना को आगे बढ़ाए और बच्चों में इन मूल्यों की समझ बनाने में मदद करे, ताकि बच्चे समतामूलक समाज की रचना में अपने-आप को लगाएँ। आपने समतामूलक समाज बनाने में स्कूल के दायित्व की तरफ़ इशारा किया है।

अभी हाल ही में अख़बार में ख़बर थी कि दिल्ली की एक मिडिल क्लास कॉलोनी के लोग सड़क पर धरने के लिए इसलिए उतर आए क्योंकि उनकी कॉलोनी के पास की ख़ाली पड़ी सरकारी ज़मीन पर सरकार ने सरकारी स्कूल के बच्चों के लिए स्पोर्ट्स फ़ेसिलिटी बनाने का निर्णय लिया था। उसको बनाने का काम शुरू हो ही रहा था कि कॉलोनी के लोगों ने

उसे रोकने की कोशिश की। उनका कहना था कि यहाँ अगर सरकारी स्कूल के बच्चे भी खेलने आएँगे तो सुरक्षा का ख़तरा हो जाएगा और भीड़ बढ़ जाएगी।

अब आप सोचिए, भीड़ इसलिए हो रही है क्योंकि हर एक परिवार दो-दो, गाड़ियाँ रख रहा है। उनके बच्चों को स्कूल से लेने-छोड़ने के लिए गाड़ियाँ आती-जाती हैं, उससे भीड़ हो जाती है, रोड पर दिक़्क़त होती है। लेकिन यह बात वह अपने ऊपर बिलकुल नहीं लेंगे।

ऐसा भी कहा गया कि इस स्पोर्ट्स फ़ेसिलिटी का उपयोग हमारे बच्चे तो करेंगे नहीं क्योंकि वे सरकारी स्कूल में जाते ही नहीं। तो फिर हम अपने रहन-सहन, अपनी सुविधाओं पर क्यों आफ़त आने दें। अतः सरकार को फ़ेसिलिटी नहीं बनानी चाहिए। इतने 'पढ़े-लिखे', इतने 'सजग', और अच्छे ओहदों पर आसीन लोग मूल्यों की समझ और उनमें निष्ठा नहीं रखते।

रोहित : आज़ादी के बाद से ही हमारी स्कूली शिक्षा में बहुत बड़ा संकट यह है कि शिक्षा हमारे राज्य या हमारे देश के सामने कभी प्राथमिकता के रूप में नहीं आई। हमारे सामने संकट अभिभावकों की ओर से भी है, राज्य और समाज की ओर से भी। शिक्षा के उद्देश्य को लेकर अभिभावकों और स्कूल में बड़ी गफ़लत है। कुछ ही लोग यह समझते हैं कि स्कूली शिक्षा एक बेहतर मनुष्य के निर्माण के लिए भी है। लेकिन जब तक शिक्षा का एक सही उद्देश्य और एक दिशा नहीं बनेगी, तब तक समतामूलक और समावेशी शिक्षा में बड़ी पेचीदगियाँ और जटिलताएँ रहेंगी।

रश्मि : शिक्षा को समतामूलक और समावेशी बनाने के लिए हमने अपने स्तर पर, अपनी संस्थाओं में किस तरह के प्रयास किए हैं और उनसे हमें क्या सीखने को मिला है, इन प्रयासों में जो चुनौतियाँ आपको दिखीं, बताइएगा। ऐसे प्रयासों को भी बताइए जो आपने ख़ुद नहीं किए हैं लेकिन आपको अनुकरणीय और महत्त्वपूर्ण लगते हैं?

रोहित : पिछले 32-33 वर्षों से काम करते हुए यह एहसास हुआ है कि बहुत सारे प्रयास कई स्तरों पर करने होंगे तभी एक समतामूलक समावेशी समाज या परिवेश का निर्माण हम कर पाएँगे। हम लोग स्कूलों में गए तो पाया कि स्कूल विकलांग बच्चों को प्रवेश ही नहीं देते थे। उनसे कहा जाता था कि यह स्कूल तुम्हारे लिए नहीं है। बच्चों के अभिभावक यह सुनकर ही मायूस हो जाते थे। जो विशेष संस्थाएँ हैं उनमें भी इंफ़्रास्ट्रक्चर अच्छा नहीं होता। फिर ऐसे बच्चों को समाज के साथ समावेशित होने का जो माहौल मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता और बच्चे समाज से अलग-थलग हो जाते हैं।

चित्र : हीरा धुर्वे

हम लोगों ने स्कूलों में सेन्सिटाइज़ेशन प्रोग्राम शुरू किए। शिक्षकों को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। समाज में जागरूकता की ज़रूरत महसूस की तो वहाँ भी काम किया। फ़िल्में दिखाकर, रोल मॉडल दिखाकर, पोस्टरों के माध्यम से एक माहौल बनाने की कोशिश हम कर रहे हैं। दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा बैरियर है। अगर हमारा दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं है तो हम कितने भी प्रयास कर लें, सफल नहीं होंगे। सबसे बड़ी चुनौती है समाज के हर वर्ग के दृष्टिकोण को बदलना और उसको सकारात्मक बनाना। कई बार लोगों को विकलांग बच्चे की क्षमताओं, जैसे, वह क्या काम कर सकता है, कहाँ पढ़ सकता है, कैसे पढ़ सकता है, यह सब नहीं पता होता। हमारा ब्लाइंड बच्चा कंप्यूटर पर भी काम कर सकता है, ब्रेल लिखकर भी। लोगों में यह जागरूकता नहीं है कि इन बच्चों में भी क्षमताएँ होती हैं।

इंफ्रास्ट्रक्चर भी एक समस्या है। जो भी स्कूल भवन बन रहे हैं, उनमें फिजिकल बैरियर हैं। रैम्प, रेलिंग, टॉयलेट कुछ नहीं हैं। सबसे बड़ी समस्या टॉयलेट की है। बच्चा स्कूल तो आ जाएगा, लेकिन कब तक कोई उसे उठा-उठाकर टॉयलेट तक लाएगा। बिना टॉयलेट के बच्चे कैसे 8 घण्टे तक स्कूल में रहेंगे? ख़ासतौर पर लड़कियाँ और फिर वह बच्चे जिनकी विशेष शारीरिक ज़रूरतें हैं। इस तरह के मुद्दों को हम सामने ला रहे हैं। कोशिश है कुछ बात (मोमेंटम) बन पाए।

बृजेश : हम जिन समुदायों के साथ काम कर रहे हैं वहाँ बहुत-से बच्चे स्कूल से ड्रॉप आउट हैं। हमने इन बच्चों को सरकारी या प्राइवेट स्कूलों में, प्रवेश दिलाने की कोशिश की। लेकिन कुछ बच्चे 6 महीने बाद, कुछ 2 महीने बाद तो कुछ सालभर बाद ड्रॉप आउट हो गए। वजह थी कि स्कूल में बच्चों के साथ भेदभाव होता था। यह भी कि बच्चों को शिक्षण प्रक्रिया बिलकुल भी समझ में नहीं आती तो वे स्कूल छोड़ देते हैं। फिर हमने अपना ख़ुद का स्कूल शुरू किया। इसमें हमने बच्चे के स्तर को देखते हुए उन्हें सिखाने की कोशिश की, उन्हें स्तर अनुसार चुनौतियाँ व अवसर दिए ताकि बच्चे अपने स्तर और गति से बढ़ सकें। दूसरा प्रयास यह किया कि हम कक्षा में बच्चों को अभिव्यक्ति के बहुत मौक़े दे रहे हैं। बच्चे अपनी भाषा में बोलने और लिखने के लिए आज़ाद हैं। उनकी अपनी भाषा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कोई दूसरी भाषा। इससे बच्चों में अपनी भाषा के प्रति भी सम्मान का भाव पैदा होता है। इससे वे आत्मविश्वासी बनते हैं, और शिक्षक की बात व पुस्तक से जो समझे, उस बात को अपने दोस्तों को अपनी भाषा में समझाने की कोशिश भी करते हैं। यह एक तरह से टू वे लर्निंग प्रोसेस है। शिक्षक बच्चों की भाषा व बच्चों से कुछ सीख रहे हैं और बच्चे शिक्षक से सीख रहे हैं। हमने अभिभावकों को भी स्कूल गतिविधियों में शामिल करने की कोशिश की। आमतौर पर शिक्षा में समुदाय की कोई सहभागिता दिखाई नहीं देती। हमने इस तरह का एक मंच बनाने की कोशिश की कि समुदाय से कुछ लोग अपने क़िस्से-कहानियाँ बच्चों को सुनाएँ। ऐसी शिक्षा हो, जिसमें समुदाय भी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल हो सके। इसके साथ ही हमने बच्चों

चित्र : हीरा धुर्वे

के परिवेश से जुड़ी शिक्षण सामग्री एकत्रित की और बच्चों को पढ़ने के लिए दी, और उन्हें लिखकर बच्चों के बीच ज़ोर से बोलकर पढ़ा। बच्चों को उन कहानियों को पढ़ने, उनपर चर्चा करने के लिए कहा, और फिर उन्हें भी अपने जीवन के अनुभव लिखने के लिए प्रेरित किया। बच्चों ने बहुत अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखीं। हमने उन्हें प्रकाशित भी किया, ताकि एक अलग तरह का साहित्य जो वंचित समुदाय के जीवन को दर्शाता है, बाहरी दुनिया तक भी पहुँच सके।

रश्मि : अलग-अलग वर्ग, जाति या धर्म के बच्चे कैसे साथ मिलकर सीख सकते हैं, इसके अनुभव बताएँ। जहाँ सामाजिक भेद हैं, उनको पाटने में क्या समावेशी वातावरण बनाने की कोई सम्भावना आपको दिखी?

बृजेश : हम अलग-अलग समुदाय के बच्चों, पारधी, गोण्ड आदि, के साथ काम करते हैं। इनकी आपसी दोस्ती नहीं होती थी। जब काम शुरू हुआ तो उनके बीच बहुत ज़्यादा संवाद नहीं था। कचरा बीनते हुए यह बच्चे यदि दूसरी बस्ती में पहुँच जाते तो बहुत झगड़ा हो जाता था। आज ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। अब कक्षा में गोण्डी और पारधी बच्चों के बीच संवाद सम्भव है। दोनों अपनी-अपनी भाषा भी सीख रहे हैं, और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में साथ में शामिल भी हो रहे हैं। हमने यह भी कोशिश की कि सरकारी स्कूल, मुस्कान के व अन्य प्राइवेट स्कूल के बच्चे एक कॉमन मंच पर मिल पाएँ और अपने विचारों व अनुभवों को साझा करें। इसलिए बाल मेले किए व कई तरह से लगातार कोशिश की, लेकिन इन चीज़ों को करने में थोड़ी मुश्किल रही है। स्कूलों और अभिभावकों की तरफ़ से भी काफ़ी प्रतिरोध हमें झेलना पड़ा। प्राइवेट स्कूल के बच्चों के अभिभावकों ने भी कहा कि यह न करें।

रोहित : शासन ने सब बच्चों को प्रवेश देने का कह दिया है। राइट टू एजुकेशन एक्ट के बाद प्राइवेट स्कूल में भी 25 फ़ीसदी सीटें वंचित वर्ग के लिए हैं। डिसेबल्ड बच्चों की भी इन स्कूलों में प्रवेश की गुंजाइश बनी है। मगर जब फ़ेसिलिटी देने की बात होती है तो सरकारी व प्राइवेट दोनों स्कूल पीछे हट जाते हैं। विशेष मदद नहीं होने से बच्चे का समावेशन हो ही नहीं पाता। उदाहरण के लिए, अगर ब्लाइंड बच्चा है, तो उसको मोबिलिटी भी चाहिए, ओरिएंटेशन भी चाहिए, ट्रैक्टाइल डायग्राम, एक्सेसबल फ़ॉर्मेट में किताबें या ई-टेक्स्ट भी चाहिए। यह सुविधाएँ उसे नहीं मिल पातीं।

प्रशिक्षण में भी समस्या है। बच्चा कहीं और पढ़ता है और शिक्षक प्रशिक्षण किसी और स्कूल के शिक्षकों को दिया जाता है। फिर जब कोई

डिसेबल्ड बच्चा पढ़ने आता है, तब तक शिक्षक भूल चुका होता है। विशेष आवश्यकताएँ इतने सारे आयामों वाली हैं कि सभी के लिए एक ही शिक्षक तैयार नहीं हो सकता। हम यही कर सकते हैं कि शिक्षक को यह एहसास करा पाएँ कि विकलांग बच्चा है तो उसके लिए ऐसी एजुकेशनल प्रैक्टिसेस को अपनाएँ जिनसे बच्चे को भी फ़ायदा हो और जो दूसरे बच्चे हैं, उनको भी लाभ मिल जाए। मान लीजिए, आपने एक थ्री-डाइमेंशनल मॉडल डिस्प्ले किया, तो हो सकता है कि इससे सभी को फ़ायदा होगा। ऐसे लर्निंग एक्सपीरियंस हम बच्चे को नहीं दे पा रहे हैं।

साथ ही निवेश की बहुत बड़ी समस्या है। सिद्धान्त में, नीति दस्तावेज़ में गाइडलाइंस में यह सब लिख देना अच्छा है, पर यह यथार्थ नहीं है। जो दिशा तय की गई, उसे करने के लिए जितने निवेश, जितनी पूँजी और ऊर्जा की ज़रूरत है, उससे हम बहुत दूर हैं। उसके लिए कोई दबाव भी नहीं बन रहा है। दबाव बनाने की ज़रूरत है क्योंकि उसके बग़ैर यह नहीं होगा।

दिनेश : मैं उत्तराखंड से हूँ, और नैनीताल जनपद के सरकारी स्कूल में पढ़ाता हूँ। समतामूलक व समावेशी शिक्षा की बात नई नहीं है। हम लोग विद्यालयों में प्रशिक्षण लेकर आए। मैंने यह महसूस किया कि वास्तव में जो हमको पढ़ाया जाता है, व्यवहार में नहीं था। सिद्धान्त में बहुत अच्छी बातें होती हैं, पर वे स्कूल में दिखाई नहीं देतीं। 12-13 साल पहले उत्तराखंड के लिए पाठ्यपुस्तक निर्माण कार्य में कई जगह से शिक्षक आए थे। हम सभी ने महसूस किया कि बहुत जल्दी ही हमारा शिक्षा से लगाव छूट रहा था, बस एक काम (नौकरी) की तरह उसे करने लग गए। दूसरा, यह लगा कि हम अपने अधिकार की माँग तो बहुत करते हैं लेकिन शिक्षक समाज कहीं भी शिक्षा की बात करता हुआ नज़र नहीं आता।

हमने सोचा कि हम शिक्षकों का मक़सद सिर्फ़ नौकरी करना न हो, उससे हमारा आत्मीय जुड़ाव हो, तभी परिवर्तन दिखाई देगा। दूसरा, हमने ख़ासतौर पर बच्चों और स्त्रियों की स्थितियों के बारे में महसूस किया कि हमारे समाज के मूल्य सामन्ती होने से उनमें बड़ी गड़बड़ है। यह गड़बड़ व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ती, उसके साथ बनी रहती है। शिक्षकों के साथ भी यह गड़बड़ बनी रहती है। इसपर बात करने की ज़रूरत है। अतः हम लोगों ने विभिन्न शैक्षिक मंचों पर शिक्षा पर विमर्श शुरू किया। यह पहल समझ के स्तर पर थी, शिक्षा के उद्देश्यों को समझना, उनपर विमर्श करना, आदि। हम समझना चाहते थे कि बच्चों के साथ समानता का व्यवहार कैसे हो; कैसे उनको लगे कि वो भी शिक्षा का अहम हिस्सा हैं; कैसे

शिक्षक बच्चों के सामने अच्छे इंसान के रूप में प्रस्तुत हों; सही शिक्षा की अवधारणा, जिसमें कहा जाता है कि हम मिलजुलकर सीखेंगे, क्या है? इन सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए हमने कई प्रयोग किए। हमने मूल्यांकन में बच्चों को सम्मिलित किया, उन्हें अपना मूल्यांकन ख़ुद करने के लिए कहा। हालाँकि, इस व्यवस्था के अन्दर यह कठिन होता था, पर हमने किया। शिक्षण के स्तर पर ये प्रयास था कि हर वर्ग या जाति के बच्चे के साथ समावेशी व्यवहार करें।

इस पूरी प्रक्रिया में हमने पुस्तकालयों पर काफ़ी ज़ोर दिया, ताकि बच्चे और शिक्षक पढ़ें और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करें। विद्यालयों में आमतौर पर जो पुस्तकालय बन्द रहते हैं उनको कैसे जीवन्त बनाएँ और बच्चों से जोड़ें? कक्षाओं में ऐसे किताब कोने कैसे बनाएँ जिनमें बच्चों की भागीदारी हो? इस तरह की कुछ कोशिशें हम लोग कर रहे हैं।

रश्मि : अपने मुख्य प्रयासों को आपने रखा है और उनमें कई चुनौतियाँ दिखाई देती हैं। इन चुनौतियों के लिए क्या प्रयास करने चाहिए? ऐसे क्या प्रयास किए जा रहे हैं जो हमें ताक़त देते हों, आशा दिखाते हों?

रोहित : हमारे इंटरवेंशन में हम इस बात का ध्यान नहीं रखते कि हम सब वर्गों को कैसे समायोजित कर पाएँगे। जैसे, जब गतिविधि-आधारित शिक्षण की बात हुई, यूनिसेफ़ ने बहुत सारी किताबों को चित्रात्मक बना दिया। यह नहीं सोचा कि एक ब्लाइंड बच्चा इन्हें कैसे पढ़ पाएगा; उसे अतिरिक्त सामग्री कैसे देंगे; क्या उसे पूरक किट देंगे ताकि वह भी इसका अनुभव कर पाए?

अक्षत : हम बच्चों के साथ संवैधानिक मूल्यों पर काम कर रहे हैं। हमारे काम में एक आयाम पुस्तकों का है। अलग-अलग भाषा और विधा वाली चुनिन्दा किताबें, जो जेंडर भेदभाव, जाति या धार्मिक भेदभाव सहित अलग-अलग मुद्दों को सम्बोधित करती हों, पुस्तकालयों में उपलब्ध करवाना। पुस्तकालय की अवधारणा नई नहीं है, लेकिन इसको नयापन देने की कोशिश है। हम स्कूलों के साथ जुड़ रहे हैं और समुदाय में भी। अभी शुरुआती चरण है, लेकिन अलग-अलग राज्यों और अलग-अलग स्कूलों में इसको समावेशी बनाने की कोशिश है। एक ऐसा स्थान, जहाँ बच्चे किताबों के साथ बिना डर के रूबरू हों, सुरक्षित वातावरण में अपनी बातों को सामने रख सकें।

रश्मि : एक अलग मानसिकता, एक अलग संस्कृति का निर्माण करना सबसे बड़ी चुनौती है। ऐसी संस्कृति के निर्माण के लिए साहित्य भी ऐसा हो जिसमें यही मूल्य दिखें, चुनिन्दा सामग्री उपलब्ध हो और उसका प्रचार-प्रसार हो। बच्चे

और शिक्षक को उनकी जानकारी हो और वे उसे पढ़ें, उसपर मनन करें व लिखें, इसी से एक नई समझ आ सकती है। इसमें मेहनत और समय लगेगा और यह करना हम सबकी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी बन जाती है।

रश्मि : मैं बृजेश के उदाहरण पर लौटना चाहती हूँ कि संस्कृति निर्माण में एक तरफ़ सामग्री, किताबों, बाल पत्रिकाओं या शिक्षक के समाचारपत्र की बात है, पर साथ ही ठोस अनुभव भी बहुत ज़रूरी हैं।

आपने विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के साथ जो कार्यक्रम किए, उनमें कितना समावेशन सम्भव हो पाया? अलग-अलग वर्ग के लोग उनमें जुड़कर एक नई मानसिकता कैसे बना पाए? इससे सम्बन्धित आप अपना कुछ अनुभव बताएँ।

रोहित : हमारे प्रयास दो तरह से मददगार होते हैं। जो डिसेबल्ड बच्चे हैं, उनका आत्मविश्वास बढ़ता है, उनमें जागरूकता आती है और उन्हें लगता है कि वह भी समाज का हिस्सा हैं।

रश्मि: एक डिबेट रही है कि समावेशन की बात अच्छी है, लेकिन अगर बच्चों को नॉर्मल स्कूल में भेजते हैं तो इससे बच्चों को नुक़सान ही होगा, क्योंकि स्पेशल स्कूल में वह जो सीख पा रहे हैं, जो आत्मविश्वास, अवसर, सुविधाएँ, अपनापन और प्यार उन्हें मिल रहा है, यह सब उन्हें सामान्य स्कूल में नहीं मिलेगा और वह पिछड़ जाएँगे। इस विषय में आपको क्या लगता है?

मुझे लगता है इसका उलटा क्यों न करें! जो सामग्री एक स्पेशल बच्चे के लिए उपयोगी है, वह असल में सभी बच्चों के लिए उपयोगी होती है। एक अच्छे स्पेशल स्कूल में सभी बच्चों को भी प्रवेश दें। ऐसा क्यों नहीं कर सकते? ऐसा क्यों हो कि उसमें सिर्फ़ स्पेशल बच्चे हों?

रोहित : आपका कहना सही है, मगर दुर्भाग्य यह है कि अच्छे स्पेशल स्कूल नहीं हैं। जो विकास, नवाचार, शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे हैं, उनको स्पेशल स्कूल से बिलकुल अलग रखा जाता है। पिछले 60-70 वर्षों में शिक्षा की यात्रा में जो भी विकास की प्रक्रिया हुई है, उसमें स्पेशल स्कूलों में कुछ काम हुआ है। दिल्ली-मुम्बई में कुछ संस्थाएँ अच्छा काम कर रही हैं। समस्या यह है कि अच्छे अंक वाले विद्यार्थी अच्छे-अच्छे पेशों में जाते हैं। कुछ कम अंक वाले बच्चे शिक्षकीय पेशे को चुनते हैं और जो शिक्षक नहीं बन पाते, वे स्पेशल एजुकेशन में जाते हैं।

एक नियमित स्कूल में भी विशेष आवश्यकता वाले बच्चे पढ़ सकते हैं, लेकिन ऐसे स्कूलों को फिर मदद की ज़रूरत होगी। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि एक रिसोर्स सेंटर हो, जहाँ से स्पेशल टीचर, स्पेशल एजुकेशन सहायता, अप्लायंसेज उपलब्ध हों।

रजनी : हमने डिसेबल्ड बच्चों के बारे में बात की। एक औसत बच्चे की या नियमित स्कूल की बात करें तो वहाँ भी समावेशन और बराबरी के मसले हैं। शिक्षक, बच्चे, उनके अभिभावक और समाज, इन सबका एक सकारात्मक नज़रिया कैसे बने?

बृजेश : नियमित स्कूल में भी जो बच्चे कक्षा में पीछे होते हैं, उनके साथ मुश्किल होती है। ऐसे बच्चे कक्षा के साथ मिलकर चल सकें, उसके लिए अलग से प्रयास की ज़रूरत है।

कहते हैं कि हर बच्चा अपनी गति से सीख रहा होता है लेकिन हर बच्चे के पास सीखने के बराबर के मौक़े होने चाहिए। जो बच्चा धीमे चल रहा है, देरी से सीख रहा है, उसको अपने-आप में कोई कमी महसूस नहीं होनी चाहिए, ऐसा माहौल कक्षा में बनाने की ज़रूरत होगी।

दूसरा मुद्दा समाज का नज़रिया है। डिसेबल्ड बच्चों के बीच में भी वर्ग होते हैं। एलीट वर्ग का डिसेबल्ड बच्चा और झुग्गी-झोपड़ी का डिसेबल्ड बच्चा एक ही केन्द्र पर जा रहे होंगे तो वहाँ भी अभिभावकों की तरफ़ से विरोधाभास देखने को मिलता है।

एक एलीट सोसाइटी में हमने घर लिया। झुग्गी-झोपड़ियों के बच्चे कभी-कभी हमारे यहाँ आते थे। वहाँ सोसायटी के लोगों ने इतना विरोध किया कि हमें कॉलोनी के अन्दर नहीं जाने दिया। समाज के अन्दर मौजूद ग़ैर-बराबरी एक बड़ा मसला है।

एक ऐसा स्कूल हो जहाँ हर वर्ग का बच्चा पहुँच सके, तब समावेशी समतामूलक समाज की कल्पना कुछ सम्भव हो पाएगी।

रोहित : इस दिशा में हम बेस्ट प्रैक्टिस को एडवोकेसी के लेवल पर लोगों के बीच ले जा सकें, इसमें बहुत सूक्ष्मता से ध्यान देने की ज़रूरत है। यह अपने-आप नहीं हो जाएगा, इसमें बहुत मेहनत की ज़रूरत पड़ेगी।

अक्षत : समाज की क्या भूमिका होनी चाहिए इन सारी चीज़ों को लेकर? सूचना के अधिकार में एक बहुत अच्छा स्लोगन आया था– "हम जानेंगे, हम जिएँगे"। मतलब अपने गाँव में, क़स्बे में लोगों को और समाज को अगर यह पता है कि स्कूल की क्या-क्या कमियाँ, क्या-क्या चुनौतियाँ हैं और स्कूल में ये चीज़ें होती हैं, तभी वे जवाब-तलब कर सकते हैं और पारदर्शिता व जवाबदेही की बात कर सकते हैं। तभी समतामूलक शिक्षा कि ओर बढ़ा जा सकता है।

दिनेश : यह बात सही है कि अपने देश में, लोकतंत्र में, यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम जो बोलते हैं, और जो व्यवहार है, उसमें खाई लगातार बढ़ती जा रही है। फिर भी संस्कृति

निर्माण की जो बात आपने कही थी, उसपर सोचते हुए मुझे लगता है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे लोग अगर संवेदित हैं, प्रेरित हैं तो कुछ सम्भावनाएँ बनती हैं। एक शिक्षक को 40 मिनट मिलते हैं, जहाँ वह अपनी तरह से काम कर सकता है। मुझे लगता है कि हम सिर्फ़ व्यवस्था को दोष नहीं दे सकते। एक स्कूल में गुंजाइश होती है क्योंकि स्कूल आपका होता है। कई जगह रिक्तताएँ हैं, पर हम लोग अपने-अपने स्तर पर समतामूलक और समावेशी शिक्षा व एक संस्कृति निर्माण का काम कर ही सकते हैं। दूसरा, शेयरिंग जितनी ज़्यादा होगी, उतना हम सब प्रेरित होंगे। देश में अलग-अलग जगह पर अलग तरह के काम हो रहे हैं, उससे और लोग भी प्रेरित होते हैं।

यह भी कि नेतृत्व की दृष्टि और उसका व्यवहार लोगों पर बहुत असर डालता है। शिक्षा विभाग के नेतृत्व से हमारी अपेक्षा है कि वो इन सारे मूल्यों, परिप्रेक्ष्यों को अपने व्यवहार में इसी निष्ठा के साथ दिखाएँगे। अकसर अधिकारियों का व्यवहार अपने से नीचे के कर्मचारियों-अधिकारियों और शिक्षकों के प्रति बेहद उलट दिशा का होता है। वो जिस तरीक़े से पूछताछ करते हैं, मॉनिटरिंग करते हैं, उसमें कहीं से भी समावेशी या समतामूलक भावना प्रदर्शित नहीं होती है। यह एक ज़िम्मेदारी है, जिसकी अपेक्षा हमें करनी चाहिए। यहाँ पर कई संगठन एक अलग तरह की पद्धति अपने काम में दिखाते हैं। उनकी अपनी कार्य पद्धति में समावेशी मूल्य और समतामूलक समाज के मूल्य शामिल हैं। जिस तरह मुस्कान चलती है, आरुषि का या और संगठनों का काम चलता है, वो संगठन अपनी कार्य पद्धति से भी एक समतामूलक समाज और समतामूलक शिक्षा की बानगी पेश करते हैं। तो हमें इन मुद्दों को भी उठाना पड़ेगा। बात सिर्फ़ बच्चों की ही नहीं है, बात हमारी अपनी कार्य पद्धति की भी है कि हम अपने में भी उन मूल्यों को जिएँ, और अगर जी रहे हैं तो उसके बारे में औरों से साझा भी करें। आगे प्रसारित होकर बच्चों तक भी वह बात तभी पहुँच पाएगी, जब हमारी कार्य पद्धति में वे चीज़ें आएँगी।

- पेज 107 और 115 पर दिए गए चित्र *राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्*, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किताब *आओ खेल खेलें* से साभार।
- पेज 105, 109, 111, 112 और 114 पर दिए गए चित्र इंटरनेट से साभार।